

प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन में 'वर्ण व्यवस्था' का स्वरूप

अभिषेक अग्निहोत्री

शोध छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

संस्कृत वाङ्मय में 'वर्ण' शब्द की उत्पत्ति 'वृञ्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ होता है—वरण करना या चुनना। अर्थात् वर्ण शब्द का तात्पर्य है—अपने चुने हुए विशिष्ट वर्ग से सम्बद्ध। वर्ण शब्द का दूसरा अर्थ रंग भी होता है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर वर्ण का अर्थ रंग या प्रकाश के रूप में लिया गया है।¹ वर्ण व्यवस्था का भारत के सामाजिक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है, जो सामाजिक विभाजन के रूप में वैदिक काल से आज तक पूरे भारत में निरन्तर प्रवाहमान है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भारतीय समाज का वर्णों में विभाजन किया गया था। इसका प्रधान आधार रंग भेद प्रजातीय धारणा ही थी।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जहाँ तक इन चार वर्णों का सम्बन्ध है, ऋग्वेद में इनका एक साथ सर्वप्रथम उल्लेख दशम मण्डल के पुरुषसूक्त में किया गया है।² इस मंत्र के अनुसार देवताओं ने जब पुरुष (विश्वात्मा) को विभाजित किया तब ब्राह्मण उसका मुख, क्षत्रिय उसकी भुजाएँ, वैश्य उसकी जंघा तथा उनके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। कतिपय विद्वान ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित चातुर्वर्ण—विभाजन को आर्य सामाजिक संगठन का प्रथम महत्वपूर्ण आधार स्वीकार करते हैं। पुरुष सूक्त की इस परिकल्पना में यह लक्षित होता है कि समाज एक विराट् पुरुष के समान है, जिसका प्रत्येक अंग सामाजिक मानवों की अलग-अलग वृत्तियों अथवा कार्य-कारणों का प्रकाशक है। मुख के समरूप ब्राह्मण शिक्षण तथा यज्ञ-यागादि से आबद्ध है। भुजाओं के रूप में क्षत्रिय राज्य की रक्षा का कर्तव्य निभाता है। जंघे के समान वैश्य समाज को अपनी अर्थव्यवस्था की शक्ति से संभालता है तथा पाद के समरूप शूद्र का विशेष कार्य समाज की सेवा था। ऋग्वैदिक काल में यह विभाजन सैद्धान्तिक था, उस समय कोई भी व्यवसाय या विभाजन वंशानुगत नहीं था। सम्पूर्ण समाज को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह अपनी रुचि, क्षमता एवं योग्यता के अनुसार किसी भी कार्य या व्यवसाय को अपना सकता था।

वर्ण और व्यवस्था इन दो शब्दों के समास से वर्ण-व्यवस्था शब्द बना है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार गुणक्रियादि-बोधार्थक 'वर्ण' धातु से अच् प्रत्यय द्वारा 'वर्ण' शब्द बना है, इसका अर्थ है जिससे किसी के स्वरूप, गुण या क्रिया का बोध हो वह 'वर्ण' है। वि + अव, उपसर्गपूर्वक स्थित्यर्थक 'च्' धातु से व्यवस्था शब्द बना है जिसका अर्थ है विशिष्ट रूप से अवस्थित अर्थात् निर्बाधरूप से स्थिर होना। अतएव वर्णों की व्यवस्था अर्थात् अपने-अपने योग्य स्थान में अवस्थिति ही 'वर्ण व्यवस्था' शब्दार्थ सिद्ध होता है। यह विषय भी प्रसिद्ध है कि जहाँ व्यवस्था है वह देश उत्थानोन्मुख होकर उन्नत समृद्ध होता है एवं जहाँ अव्यवस्था है वह देश पतनोन्मुख होता हुआ नष्ट हो जाता है, इसीलिए सर्वत्र ही व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

मनुष्य अपने गुणों के कारण सम्मान पाता है, गुण ही उसे महान बनाने में सहायक होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में सत्व गुणों को सुख, रजस गुण को कर्म तथा तमस् गुण को अज्ञान का द्योतक बताया

गया है।³ मनु ने भी कहा है कि सत्व गुण ज्ञानसमन्वित, रजोगुण राग-द्वेषयुक्त एवं तमोगुण प्रतिकूल ज्ञान से युक्त होते हैं। महाभारत के अनुसार न तो जन्म, न संस्कार, न वैदुष्य और न सन्तति ही किसी व्यक्ति को द्विजाति की श्रेष्ठता दिलाती है, बल्कि व्यक्ति अपने कर्म से द्विजाति की श्रेष्ठता प्राप्त करता है।⁴ गीता के अनुसार स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र जैसे वर्णों की व्यवस्था की गयी है।⁵ अतः स्पष्ट है कि भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था प्राचीन काल से चली आ रही है जो कि 'गुण-कर्ममूलक' स्थापना थी, न कि 'जन्म-मूलक'। गीता भी इसी बात को प्रतिपादित करता है कि गुण और कर्मों के विभागपूर्वक चार वर्ण मैंने रचे हैं, इस प्रकार उस सृष्टि रचनादि कर्म का कर्ता होने पर भी तू मुझे अकर्ता-अविकारी ही जान।

गुण के अन्तर्गत तीनों गुणों सत्व, रज एवं तम तथा उनके प्रभावों को समाहित माना जाता है। सत्वगुणी व्यक्ति परस्पर प्रेम, ज्ञान, निर्दोषता तथा सृजनात्मकता को प्रश्रय देने वाला होता है। रजोगुणी व्यक्ति में आपसी भाईचारे के साथ-साथ मान-सम्मान तथा तृष्णा की भावना प्रबल होती है। तमोगुणी व्यक्ति प्रमाद, निद्रा, आलस्य तथा अज्ञान आदि से ग्रसित होता है। गीता के अनुसार सत्व गुण से सुख, रजोगुण से कर्म तथा तमोगुण से अज्ञान की सृष्टि होती है।⁷

विष्णु पुराण के अनुसार संसार का सृजन करने के इच्छुक ब्रह्मा ने सत्वगुण सम्पन्न ब्राह्मण को अपने मुख से, रजोगुण-युक्त क्षत्रिय को अपने वक्ष स्थल से, रजोगुण एवं तमोगुण से सम्पन्न वैश्य को अपनी जंघा से तथा तमोगुण प्रधान शूद्र को अपने चरणद्वय से प्रादुर्भूत किया।⁸ सम्पूर्ण विश्व के जनों पर उपर्युक्त गुणों का प्रभाव सहज ही रहता है। व्यक्ति भी अपनी प्रकृति, चिंतन, कार्य तथा कर्म आदि में उपर्युक्त गुणों से अवश्य प्रभावित होता है। तभी शास्त्रकारों एवं मनीषियों ने इस त्रिगुणात्मक जगत में मनुष्य के कर्मों को गुण-विशेष से अनुप्राणित तथा संचालित किया है। गीता भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने भी "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।" इस भगवद्वाक्य की व्याख्या में सत्वगुणप्रधान को ब्राह्मण, रजोगुणप्रधान को क्षत्रिय, तमोगुणप्रधान को शूद्र और गुण-साम्य को वैश्यवर्ण कहा है तथा इन चारों के द्वारा कर्तव्य कर्म भी कहा है।⁹ मनु ने भी गुणों की चर्चा करते हुए कहा है कि वेदों का अभ्यास, तप, ज्ञान, शौच (शुद्धता), इन्द्रिय-संयम, धर्म कार्य और आत्मा का चिन्तन ये सात्विक गुण के लक्षण हैं तथा ये समस्त लक्षण ब्राह्मण वर्ग के थे।¹⁰ आरम्भ किये गये कार्य में रुचि न रखना, धैर्य का अभाव, शास्त्रवर्जित कर्म का आचरण, सर्वदा विषयों में आसक्ति ये रजोगुण के लक्षण हैं तथा ये सभी लक्षण क्षत्रियों में रहे हैं। शौर्य, साहसिक कार्य, शासन, प्रजा-रक्षा आदि क्षत्रियों के प्रधान कर्तव्य रहे हैं।¹¹ मनु के अनुसार पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, वेदाध्ययन, व्यापार करना, ब्याज लेना और कृषि करना वैश्यों का प्रधान कर्म था।¹² लोभ, निद्रा, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, नित्य-कर्म का त्याग, माँगने का स्वभाव और प्रमाद ये तामस गुण

के लक्षण कहे गये हैं।¹³ वैश्यों में राजस और तामस दोनों गुणों का समन्वित रूप निहित था तथा शूद्रों में पूर्ण रूप से तामस गुण था। मनु के अनुसार शूद्र वर्ण के लिए एक ही कर्तव्य बताया है— ईर्ष्या तथा द्वेष से परे रहते हुए तीनों वर्णों की सेवा करना।¹⁴ भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चातुर्वर्ण का विकास देश, काल और परिस्थिति के अनुसार संवर्द्धित होता रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्राचीन काल से लेकर अभी तक विभिन्न परिवर्तनों और स्थितियों से होकर विकास की ओर प्रवृत्त हुए। मनुष्य की सच्चरित्रता और सदाचारिता भी उसके गुणधर्म से सम्बन्धित थी। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह (ब्रह्मचर्य), अपरिग्रह, दान और दया मनुष्य का सामान्य धर्म था जो उसकी नैतिकता से परिचालित होता था। सामाजिक व्यवस्था का आधार कर्म भी रहा है, जो धर्ममूलक और आचारमूलक दोनों था। ये चारों वर्ण अपने उद्गम, धर्ममूलक प्रवृत्तियों और विशिष्ट संस्कारों के कारण एक दूसरे से पृथक् माने जाते रहे हैं।

उपसंहार

वर्ण-धर्म अथवा वर्ण-कर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने से व्यक्ति और समष्टि दोनों का उत्कर्ष होता है। व्यक्ति अपने धर्म का अनुसरण करके समाज-निर्माण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। सभी वर्ण के लोग अपने-अपने वर्णानुकूल कर्मों को स्वीकार करके, एक दूसरे के प्रति होने वाली स्पर्धा से अपने को विमुक्त कर लेते हैं। इससे समाज में शान्ति, सहयोग और स्पर्धाहीन वातावरण का निर्माण होता है तथा प्रत्येक वर्ण सामाजिक अभिवृद्धि के मार्ग पर निर्द्वन्द्व होकर निर्विरोध अग्रसर होता है। फलतः मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है। वह वर्ण-धर्म के आधार पर परिवार, समुदाय, समाज और देश के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सशक्त निर्वाह करता है, जिसमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, शौच, दान आदि विभिन्न गुणों का समावेश रहता है। इन्हीं नैतिक और व्यवस्थित नियमों का अनुपालन करके उसे अभीष्ट अथवा परमपद की प्राप्ति का मार्ग मिलता है, जिस पर अग्रसर होकर वह परमानन्द अथवा सर्वोत्कृष्ट सुख की अनुभूति करता है। समाज और राष्ट्र के निर्माण, विकास तथा अभ्युत्थान में वर्ण-व्यवस्था का योगदान सराहनीय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. यो दासं वर्णमधरं गुहा कः। ऋग्वेद-2/12/4
2. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरुतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। ऋग्वेद-10/90
3. तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानहा।। गीता-14.6
4. न योनिनापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्थ वृत्तिमेव हि कारणम्।। महाभारत-13.143.50
5. ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तपः।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। गीता-18.14
6. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
वस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। गीता-4.13
7. सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।। गीता-14.9
8. अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्विक्ता मुखात्प्रजाः।
वक्षसो रजसोद्विक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन्।।
रजसा तमसा चैव समुद्विक्तास्तथोरुतः।। विष्णुपुराण-1.6.35
9. गुण विभागशः कर्म विभागश्च गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तत्र
सात्त्विकस्य सत्त्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य 'शमोदमः' इतयादीनि
कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनरजः प्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यं तेजः
प्रभृतीनि कर्माणि।।' (शांकरभाष्य-गीता-4.13)

10. वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।?
धर्मक्रियात्मचिन्ता च सात्त्विक गुणलक्षणम्।। मनुस्मृति-12.31
11. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वर भावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। गीता-18.43
12. पशुनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कुषिमेव च।। मनुस्मृति-1.92
13. त्रयाणामपि चैतेषां गुणानां यः फलोदयः।
अग्रयो मध्यो जघन्यश्च तं प्रवक्ष्याम्यशेषतः।। मनुस्मृति-12.30
14. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शूश्रुषामनसूयया।। मनुस्मृति-1.93